दिसम्बर १९८८ हिंदी पत्रिका में प्रकाशित

उद्‌बोधन

मेरे प्यारे साधकों,

आओ, शुद्ध धरमपथ को समझें! शुद्ध धरमपथ की मंजिलों को समझें!

यह भी समझें की शुद्ध धरम के पथ पर भी ऊंच-नीच का भेदभाव होता है। यह कैसे होता है? यह भेदभाव जात-पांत पर आधारित नहीं होता। संप्रदाय पर आधारित नहीं होता। यह धर्मपथ की मंजिलों पर आधारित होता है। चार मंजिलें हैं धरमपथ की।

पहली मंजिल है शील की, दूसरी है समाधि की, तीजी है प्रज्ञा की, और चौथी है विमुक्ति की।

कोई एक व्यक्ति ऐसा होता है जो धर्मपथ की मंजिलों की चर्चा-प्रशंसा तो बहुत करता है। उन पर पुस्तकें लिखता है, उनकी अच्छाइयों के बारे में लोगों से खूब बहस करता है पर स्वयं पथ पर नहीं चलता। एक कदम भी नहीं चलता।

कोई दूसरा व्यक्ति ऐसा होता है जिसने शुद्ध धरम के बारे में सुना है। सुनकर उससे प्रभावित हुआ है और धर्म पथ पर चलने लगा है। चलते चलते पहली मंजिल पर पहुंच गया है। शील सदाचार का जीवन जीने लगा है परन्तु अभी उसने समाधि का अभ्यास नहीं किया, प्रज्ञा का अभ्यास नहीं किया।

धर्म के पथ पर यह दूसरा व्यक्ति निश्चय ही पहले व्यक्ति से आगे है इसलिए पहले के मुकाबले महान है।

कोई तीसरा व्यक्ति ऐसा होता है जो धर्मपथ पर चलते हुए शील में तो प्रतिष्ठित हुआ ही, धर्मपथ की अगली मंजिल समाधि तक भी पहुँच गया। याने उसकी चित्त-एकाग्रता भी सबल हो गयी। धर्मपथ पर ऐसा तीसरा व्यक्ति उस दूसरे व्यक्ति से महान ही है जो कि अभी शील की मंजिल तक ही पहुँचा है और पहले व्यक्ति से तो और अधिक महान है जो कि अभी शीलवान भी नहीं बन पाया।

कोई चौथा व्यक्ति ऐसा होता है जो कि धर्मपथ पर चलते हुए न केवल शील की और समाधि की ही मंजिल तक पहुँचा है, प्रत्युत प्रज्ञा की मंजिल तक भी जा पहुँचा है। याने शीलवान, समाधिवान ही नहीं प्रज्ञावान भी हो गया है। ऐसा व्यक्ति उस तीसरे व्यक्ति से कहीं महान है जो कि अभी समाधि की मंजिल तक ही पहुँचा है। पहले से तो वह महान है ही जो कि शीलवान भी नहीं और दूसरे से भी महान है जो कि शीलवान है पर समाधिवान नहीं।

ऐसे ही कोई पांचवा व्यक्ति ऐसा होता है जो धर्मपथ की अंतिम मंजिल तक पहुँच गया। वह शील, समाधि और प्रज्ञा में पुष्ट होकर विमुक्ति रस भी चख चुका। निर्वाणदर्शी भी हो गया।

ऐसा व्यक्ति उस चौथे व्यक्ति से तो महान है ही जो कि शीलवान है, समाधिवान है, प्रज्ञावान है फिर भी अभी तक इंद्रियातीत निर्वाण का दर्शन नहीं कर सका है। परन्तु पहले, दूसरे और तीसरे व्यक्ति से कहीं महान है जो कि अभी बहुत पिछड़े हुए हैं।

इस प्रकार क्रमशः धर्मपथ से दूर रहनेवाले व्यक्ति से शीलवान, शीलवान से समाधिवान और शील-समाधिवान से शील-समाधि-प्रज्ञावान अधिक महान है और शील-समाधि-प्रज्ञावान से वह व्यक्ति अधिक महान है जो कि शील-समाधि-प्रज्ञावान होते हुए विमुक्त भी हो चुका है।

इस प्रकार धर्मपथ पर महान और क्षुद्र का भेदभाव है ही, ऊंच-नीच का भेदभाव है ही। पर यह भेदभाव व्यक्ति के जन्म के कारण नहीं। किसी भी जाति, वर्ण, गोत्र और देशकाल में जन्मा हुआ व्यक्ति हो, वह इन पांचो व्यक्तियों में से कोई भी एक हो सकता है। धर्मपथ की ऊंची से ऊंची मंजिल तक पहुँचने में भी जन्म कोई बाधा नहीं पैदा कर सकता। कोई भी व्यक्ति अपने पुरुषार्थ, परिश्रम से धर्म की अंतिम मंजिल तक पहुँच सकता है। उसके लिए कहीं कोई रुकावट नहीं। रुकावट है तो केवल उसकी अपनी कमजोरियों की, उसके अपने प्रमाद की। इन्हें दूर कर ले और काम में लग जाय तो कदम कदम धर्म पथ पर आगे बढ़ता ही जायेगा। नीच से ऊंच बनता ही चला जाएगा। उसे कोई नहीं रोक सकता।

साधको! जातिवाद की मिथ्या मान्यताओं को और संप्रदायवाद की बाधक बेड़ियों को तोड़कर आओ! शुद्ध धर्मपथ पर कदम कदम चलते रहें और विमुक्त अवस्था तक पहुँच कर अपना मंगल साध लें।

मंगलमित्र,

स.ना.गो.

दुःख का मूल, दुष्कर्म

डॉ. ओमप्रकाश

यह संसार परीजगत के समान नहीं है जहां सब कुछ सुखद ही हो। हम इस सत्य को नकार नहीं सकते कि जीवन अपूर्ण, अधूरा और संतोषरहित है। इसमें क्लेश है और अशांति है। इसे हम दुःख के नाम से जानते हैं। संत गुरु नानक देवजी ने ठीक ही कहा है, **"नानक दुखिया सब संसार।"** भगवान बुद्ध ने भी कहा कि संसार में केवल दुःख ही दुःख है। **"सब्बो पज्जलितो लोको।"** धनी-निर्धन, रोगी-निरोगी, श्वेत-काले, पति-पत्नी, बच्चे-बूढ़े, अपंग-सपंग सभी की अपनी अपनी समस्याएं हैं और सभी परेशान हैं। सभी दुःखी हैं।

यह दुःख क्यों है? यह क्लेश क्यों है? इसका कारण क्या है? और इसका निवारण कैसे हो? क्या इसके मूल कारण को हटाया जा सकता है?

यदि दुःखकारक घटनाएं और परिस्थितियां अकस्मात होती हैं जैसे नेपाल और बिहार का भूचाल, तब तो इनके निवारण के प्रयत्न करने की कोशिश करनी बेकार है- यह हमारे वश की बात नहीं।

यदि इस दुःख का कारण कोई अदृश्य शक्ति की इच्छा है और वह जो चाहे वैसा करेगी ही, तब भी हमारे वश की कोई बात नहीं। ऐसी अवस्था में या तो जैसे कुछ लोग करते हैं इसे अवश्यंभावी समझकर स्वीकार कर लें अथवा दूसरे कुछ लोगों की तरह उस महाशक्ति को प्रसन्न करने के लिए कुछ जप करें, अनुष्ठान-पुरच्चरण, पूजा-पाठ आदि करें। पर देखा गया है कि यह सब कुछ करने पर भी दुःख का निवारण नहीं होता।

कुछ गंभीरता से विचार करने पर हम यह देखते हैं कि हमारे शास्त्र, ऋषि-मनीषी, धर्मग्रंथ, वेद-उपनिषद, गीता और भगवान गौतम बुद्ध आदि ने अनुभव किया कि दुःख कोई आकस्मिक घटना नहीं है और न ही किसी अदृश्य शक्ति की लीला है। उस शक्ति को तो भगवान, ईश्वर, शिव, महादेव, अल्लाह आदि नामों से सम्बोधित किया गया है और कहा गया है कि वह न्यायकारी और दयालु है- तो भला वह क्यों किसी को अकारण दुःख देने लगा।

सन्तों ने कहा है- यह सब क्लेश और दुःख हमारे अपने दुष्कर्मों का फल है। जैसा बोओगे, वैसा पाओगे।

बोए वृक्ष बबूल का, आम कहां ते होय?

भगवान गौतम बुद्ध ने कहा कि प्राणी स्वयं अपने कर्मों के स्वामी हैं। वे अपने कर्मों की ही विरासत पाते हैं। अपने कर्मों से ही उत्पन्न होते हैं और अपने कर्मों के बंधन में बंधते हैं। उनके कर्म ही उनके शरणदाता हैं।

कर्म जैसे शुभ अशुभ होंगे, परिणाम भी वैसे ही शुभ अशुभ होंगे। और उनके अनुसार ही भोग भोगेंगे। जो कुछ हमें भोगना पड़ता है वह हमारे ही किए का फल है। किया हुआ चाहे नया हो या पुराना, उसका फल 'अवश्यमेव भोक्तव्यं।' निष्कर्ष यही कि कर्म करना हमारे वश की बात है। भाग्य हमारे आधीन है। हम जैसा चाहें, वैसा भविष्य बना सकते हैं।

कर्म का विवेचन करने पर ज्ञात होता है कि उसके उद्गम के भी तीन स्थान हैं- मन, वचन और कर्म। "मनसा, वाचा, कर्मणा" मानसिक, वाचिक और कायिक (शारीरिक)।

कायिक- जो कर्म कायिक हैं, सामान्यता उसे ही प्रधानता दी जोती है। क्योंकि वही दीख पड़ता है। जैसे किसी को मारना या शारीरिक यातना पहुंचाना आदि।

वाचिक - किसी को गाली देना, अपशब्द कहना या बुराई करना आदि। इसे भी थोड़ी गंभीरता से लिया जाता है।

मानसिक - किसी के प्रति मन में बुरी भावना लाना आदि। इसे सामान्यतः बहुत ही मामूली बात समझा जाता है। परन्तु वास्तव में यह मूल्यांकन गलत है। वस्तुतः क्रम इसके विपरीत है। मानसिक कर्म **विचार** सबसे महत्त्वपूर्ण हैं। क्योंकि शेष दोनों प्रकार के कर्म वाचिक और कायिक का मूल उद्भव तो मन से ही होता है। जो कुछ भी बोला या किया जाता है उसका विचार पहले मन में उठता है। इसलिए किसी भी कर्म का मूल्यांकन करने के पहले उस समय मन की भावना को देखना होगा।

एक डॉक्टर या वैद्य और एक हत्यारे का उदाहरण लें। दोनों ही शस्त्र का प्रयोग करते हैं। दोनों के शारीरिक कर्मों से एक निर्दोष व्यक्ति को पीड़ा होती है, उसकी मृत्यु भी हो सकती है। परन्तु डॉक्टर को कोई दोष नहीं देता। हत्यारे को दंड मिलता है। क्यों? छुरी का प्रयोग करते समय डॉक्टर और हत्यारे की मनोभावना में अन्तर था। एक की इच्छा उपकार करने की थी और दूसरे की अपकार की।

इसी प्रकार वचन की भी बात है। एक व्यक्ति दूसरे को मूर्ख या बेवकूफ कह देता है तो झगड़ा हो जाता है। परन्तु एक पिता अपने पुत्र को मूर्ख या बेवकूफ कहता है तो कुछ नहीं होता। कोई बुरा नहीं मानता। इसीलिए कहा गया कि मन ही प्रधान है। यदि तुम बुरे मन से बोलते हो या कुछ करते हो तो दुःख वैसे ही पीछे चलता है जैसे बैल के पीछे गाड़ी का चक्का।और यदि निर्मल मन से बोलते या करते हों तो शांति वैसे ही पीछे चलेगी जैसे व्यक्ति के पीछे छाया। - (बुद्धवाणी)

कर्म राग और द्वेष के जनक हैं। हमारे मन की अनचाही होती है तो द्वेष उत्पन्न होता है और मनचाही होती है तो राग। इस राग, द्वेष का प्रभाव हमारे ऊपर पड़ता है- चाहे वह क्षणिक (अल्पकालिक) हो अथवा दीर्घकालिक ,पर पड़ता अवश्य है। बार बार होने पर इनका प्रभाव संचयी (क्युमुलेटिव) हो जाता है। इस प्रकार उनके प्रति तृष्णा पैदा हो जाती है। और यह तृष्णा संस्कार डालती है। एक उदाहरण से समझें तो हम इन्हें पानी, रेत या पत्थर पर लकीर की उपमा दे सकते हैं। जो संस्कार जितना गंभीर होता है वह उतना ही गहरा प्रभाव डालता है।

दूसरे प्रकार से विचारें- आप यह स्मरण करने का प्रयत्न करें कि कल आपने क्या क्या किया?एक सप्ताह पहले क्या किया था? एक महीने पहले या एक वर्ष में क्या क्या घटा था? आप यह अनुभव करेंगे कि पिछले वर्ष की सैकड़ों घटनाओं में से एक दो याद आयेंगी, जोकि आपकी स्मृति में गहरी लकीर बन कर रह गयीं हैं। यही पक्की लकीर गहरे संस्कार डालती है। ये गहरे संस्कार हमारे साथ चलते हैं। एक जन्म से दूसरे जन्मों तक साथ संलग्न रहते हैं।

गीता के अनुसार ये कर्म अपने संस्कारों के कारण ३ प्रकार के हैं- कर्म, विकर्म और अकर्म।

कर्मः जो कुछ हम प्रतिदिन बिना प्रयत्न के करते हैं। जैसे- खाना, पीना, दैनिक काम-काज आदि। उदाहरण के लिए आप एक मित्र से मिलते हैं, उसे नमस्ते कहते हैं और आगे बढ़ जाते हैं। यह यंत्रवत (मकेनिकल) कार्य हुआ।

विकर्मः अब दूसरी स्थिति यह है कि उसी व्यक्ति को नमस्ते कहते समय आपके मन में उनके प्रति मंगल भावना, श्रद्धा और प्रेम भी है। तो यह कर्म अब विकर्म हो गया। कर्म के बल दिखावा मात्र (मुख से) था और यहां विकर्म के साथ मन भी जुड़ा हुआ है।

एक अन्य उदाहरण लें- एक डॉक्टर, वैद्य या नर्स का।यदि वे रोगी को साधारण रूप से देखकर मात्र दवाएं दें और मूल्य लें और रोगी स्वस्थ भी हो जाय, तो यह एक कर्तव्य, कर्म है। परन्तु यदि रोगी को निदान, दवा आदि देते हुए उनके प्रति मन में आत्मीयता का भाव, सेवा की वृत्ति, दया और प्रेम के भाव हों तो यह विकर्म हो जाता है और इससे रोगी और वैद्य दोनों पर कुछ विलक्षण प्रभाव पड़ता है।

संत विनोबा भावे ने एक और अच्छा उदाहरण दिया है- मां और बेटे का। माता बच्चे की पीठ पर प्यारभरा कोमल हाथ फेरती है। रोता-बिलखता बच्चा चुप हो जाता है और सो भी जाता है। अब आप एक बनावटी हाथ उसी बालक पर, उतने ही भार से फेरें तो क्या शिशु चुप हो जायेगा? कदापि नहीं। यही कर्म और विकर्म में भेद है।

महाकवि तुलसी ने भी राम-रावण युद्ध के प्रसंग में एक घटना का वर्णन किया है। युद्ध समाप्त हो गया है। श्रीराम की सेना के अनेक बानर शिविरों में आहत और घायल पड़े हैं। भगवान श्रीराम उन्हें देखने जाते हैं। भगवान का आगमन और आहतों के बीच उनकी उपस्थिति ही वानरों की पीड़ा का अंत कर देती है।

राम कृपा कर चितवा जबही, भये विगतश्रम बानर तबही।

जब नेहरू, गांधी या राष्ट्रपति युद्ध-क्षेत्र में आहतों को देखने जाते हैं- यही विकर्म है। जब विकर्म कर्म के साथ जुड़ जाता है तो लगता है कि कुछ विशेषरूप से जोड़ा नहीं गया। करनेवाले को कर्म का बोझ नहीं प्रतीत होता।

एक माता अपने बच्चे को पीटती है। आप भी उस बच्चे को पीटते हैं। बच्चा आपकी मार बरदास्त नहीं करेगा,पर मां की मार खाकर भी मां की ही गोद में सिर छिपाकर रोयेगा। ऐसा क्यों? क्योंकि मां की मार निष्काम थी, उसके मन में पवित्रता और प्रेम था और आप में क्रोध।

अकर्मः इससे भी ऊंची स्थिति है। जब पवित्रता की सीढ़ी पर और ऊंचे चढ़ते हैं तब कर्म और विकर्म - अकर्म हो जाते हैं। यदि कर्म और विकर्म स्वभाव का एक अभिन्न अंग होकर बिल्कुल सहज और नैसर्गिक हो जाते हैं, स्वचालित हो जाते हैं तो उनके लिए प्रयत्न नहीं करना पड़ता। उनका कर्ता पर कोई असर नहीं होता। वह निर्लिप्त होकर साक्षीभाव से सब कुछ करता है।

इस प्रकार अपने दैनिक, रोजमर्रा के कर्म करते हुए अकर्म की स्थिति पर पहुंचने का प्रयत्न करें। कोई संस्कार नहीं होगा तो दुःख भी नहीं होगा, बंधनमुक्त हो जायेंगे और निर्वाण या मोक्ष की अवस्था को प्राप्त हो जोयेंगे।

तृष्णा जड़ से खोदकर, अनासक्त बन जायं।

दुखबंधन से छुटन का, यह ही एक उपाय॥ (गोइन्का)

*सी-३४, पंचशील एन्क्लेव, नई दिल्ली - १०००१७.